

## ‘सात फेरे’ की भाषिक संरचना : एक गवेषणा

### सारांश

‘सात फेरे’ की भाषा में सामान्यतागर्भित सृजनात्मकता का सौंदर्य निहित है। यहाँ भाषा की जातीय प्रकृति के अनुरूप लोकप्रचलित शब्दों, मुहावरों एवं लोकोक्तियों का रचनात्मक उपयोग किया गया है। कथ्य एवं विधा क अनुरूप शिल्प एवं भाषिक संरचना के संगठन के लिए मिथकों, फैंटेसियों, बिंबों, प्रतीकों, किंवदंतियों, यात्रावृत्तांतों, कथाओं, उपकथाओं, गीतों एवं भड़ौआ आदि का प्रविधियों, युक्तियों एवं प्रयुक्तियों के रूप में प्रयोग एवं उपयोग द्रष्टव्य है। उपन्यास की भाषा पर विधा एवं विनोदमिश्रित व्यंग्यात्मक शैली का निर्णायक प्रभाव परिलक्षित होता है। ‘सात फेरे’ की भाषिक संरचना यथार्थ के बहुआयामी एवं जटिल रूप से अनुशासित है। भाषा में यथार्थ और अदभुत तत्त्व के साथ ही बाह्य यथार्थ और आन्तरिक यथाथ को वर्णित, चित्रित, संश्लेषित, विश्लेषित, प्रदर्शित एवं व्यंजित करने की गद्यगत सृजनात्मक क्षमता है। उपन्यासकार ने भाषा को बोधगम्य एवं संवादधर्मी बनाने के लिए उसे लोकधर्मिता और अधिभाषाधर्मिता से समन्वित किया है। ‘सात फेरे’ की भाषा सृजनक्षम, बोधगम्य एवं दृष्टिसंपन्न है।

**मुख्य शब्द** : अधिक्रम, बौद्धिकीकरण, अनज्ञेय, प्रकार्य, स्वायत्तता, अंतरानुशासन, विचलन, मानक भाषा, अपरिचितकरण, प्रयुक्ति, किस्सागोई, अधिभाषा, आद्यरूप, कूट, अभिप्राय, प्रोक्ति, वृत्तांत, चिति, परावृत्ति, संदर्शन, विश्वमिथकयान, अतिरंजक, वस्तुकरण।

### प्रस्तावना

किसी भी साहित्यिक कृति के सम्यक् अध्ययन के लिए यह आवश्यक है कि वस्तुपक्ष के साथ ही उसके अभिव्यक्ति के माध्यम का भी सम्यकरूपेण अन्वेषण, विश्लेषण और मूल्यांकन किया जाए। उपन्यास की वस्तु की अभिव्यक्ति का माध्यम भाषा है, अतः उसके सम्यक् अध्ययन के लिए उसकी संरचना का अध्ययन जरूरी है। चन्द्रकिशोर जायसवाल की औपन्यासिक कृति ‘सात फेरे’ की भाषिक संरचना का अनुशीलन इसी आवश्यकता को ध्यान में रखकर प्रस्तावित किया गया है।

### अध्ययन का उद्देश्य

‘सात फेरे’ की भाषिक संरचना के अध्ययन का मुख्य उद्देश्य उक्त कृति के कलात्मक सौंदर्य का उद्घाटन करना है। औपन्यासिक कृति का सौंदर्यपरक मूल्य अनिवार्यतः उसकी संप्रेषणीयता एवं प्रभावशीलता से जुड़ा होता है। साहित्यिक मूल्य के उद्घाटन के बिना उसका अध्ययन एकांगी और असमावेशी रह जाता है।

अतः ‘सात फेरे’ की भाषिक संरचना के अध्ययन का उद्देश्य कथ्य की कलात्मक अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में भाषा की भूमिका को रेखांकित करना है।

### परिकल्पना

‘सात फेरे’ समकालीन यथार्थ से जुड़ा एक सामाजिक उपन्यास है, अतः यह स्वाभाविक है कि उसकी भाषा सामाजिक यथार्थ को संप्रेष्य बनाकर प्रस्तुत करने में समर्थ हो। समकालीन यथार्थ अत्यंत जटिल, व्यापक और वैविध्यपूर्ण है। ऐसी स्थिति में उसे संप्रेष्य बनाकर प्रस्तुत करने के लिए उपन्यासकार में सृजनशीलता और अभिव्यक्ति संबंधी प्रविधियों और युक्तियों की प्रयोग-कुशलता का होना जरूरी है। ‘सात फेरे’ की भाषिक संरचना के अध्ययन से उपन्यासकार के भाषिक कौशल का अनुमान किया जा सकता है। इसके साथ ही कृति की भाषिक सफलता के रहस्य का उद्घाटन भी संभव हो सकता है। सामान्य अध्ययन से ‘सात फेरे’ की भाषा में सामान्यता के सौंदर्य का आभास मिलता है। सृजनात्मकता, भाषिक प्रविधियों एवं प्रयुक्तियों की इस भाषिक सौंदर्य-विधान में महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है।

### शोध-विधि

‘सात फेरे’ की भाषिक संरचना के अनुशीलन में अंतरानुशासनिक विधि को अपनाया गया है। इसके अतिरिक्त शोधपरक वस्तुनिष्ठ विधि के साथ ही



**ब्रह्मदेव मंडल**  
एसोसिएट प्रोफेसर,  
हिंदी विभाग,  
गोपेश्वर महाविद्यालय,  
हथुआ, गोपालगंज,  
बिहार

तथ्यानुमोदित आलोचनात्मक विधि का अनुसरण किया गया है। शोध-प्रक्रिया में उपजीव्य गन्थ के रूप में 'सात फेरे' का अंशानुख एवं पूर्णानुख अध्ययन शामिल है।

### शोध उपकरण

प्रस्तावित विषय के अध्ययन के लिए उपजीव्य ग्रंथ 'सात फेरे' के अतिरिक्त उक्त रचना या रचनाकार की कृतियों से संबंधित आलोचनात्मक ग्रंथ को साधन के रूप में ग्रहण किया गया है। इनके अतिरिक्त अन्य संदर्भ ग्रंथों के साथ ही शब्दकोष, समानांतर कोष, हिंदी साहित्य कोष, विषय विशेष पर आधारित कोष और विश्वकोष की सहायता ली गयी है।

### प्रदत्तों का विश्लेषण

आख्यान, कथा—आधारित उपन्यास का आधारभूत तत्त्व होता है। कथानक एवं कथा—युक्तियों के द्वारा उसके शिल्प का गठन होता है। उपन्यास के वस्तुपक्ष की कलात्मक अभिव्यक्ति उसके शिल्प, उसकी शैली एवं भाषिक संरचना के माध्यम से होती है। चूंकि उपन्यास की संरचना का निर्माण भाषा के माध्यम से होता है, अतः उसका गठन और ग्रथन भाषाश्रित होता है। उपन्यास की भाषा प्रायः अनुभवाश्रित और व्यावहारिक भाषा के करीब होती है। साहित्यिक कृति के गठन और ग्रथन में भाषा को भूमिका की चर्चा करते हुए शैलीविज्ञान के अध्येता डॉ. सुरेश कुमार का कथन द्रष्टव्य है, "साहित्यिक कृति का सामग्री—स्तरीय आधार भाषा होती है, जिसका अपना अधिक्रम होता है। इसी प्रकार साहित्यिक संरचना का भी अपना सोपानक्रम होता है— वह गठन तथा ग्रथन के अधिक्रम में संगठित होती है। गठन का स्तर समग्र साहित्यिक प्रभाव का स्तर है जहाँ पाठक को रचना अपनी अवयवीगत पूर्णता में प्राप्त होती है। ग्रथन का स्तर सीमित साहित्यिक प्रभाव का स्तर है जहाँ पाठक रचना के खण्डात्मक लघु प्रभावों को ग्रहण करता है, ये लघु प्रभाव पुनः समग्र प्रभाव में विलीन हो जाते हैं।"<sup>1</sup> लेखक की चेतना रचना को ढालने में मदद करती है। अनुभव से संप्रेषण तक की पूरी रचनात्मक प्रक्रिया भाषा के माध्यम से घटित होती है। भाषा केवल अभिव्यक्ति का ही माध्यम नहीं है, बल्कि चिंतन का भी साधन है।

भाषा का उपन्यासकार की चेतना से गहरा संबंध होता है। भाषा उपन्यासकार की व्यावहारिक चेतना है। मनुष्य की चेतना का विकास सामाजिक जीवन के संपर्क के फलस्वरूप होता है। मनुष्य की चेतना सामाजिक जीवन की गहरी संपृक्ति का परिणाम है। लेखक की भाषा का उसके सामाजिक विकास के साथ गहरा संबंध होता है। अतः सिद्धांततः भाषा विचार शून्य और रचनात्मक क्षमता से रहित नहीं हो सकती है। रचनाकर्म में भाषा की भूमिका को रेखांकित करते हुए डॉ. अजय तिवारी का कथन है, "मनुष्य की वर्तमान स्थिति— उसका मानसिक या बौद्धिक स्तर— उसकी रचना को ढालता है। अनुभव से संप्रेषण तक की पूरी रचनात्मक प्रक्रिया भाषा के माध्यम से ही घटित होती है। इसलिए अनुभव और भाषा को अलग नहीं किया जा सकता है। जिस बौद्धिकीकरण से अनुभव निर्मित होता है, उसी से अभिव्यक्ति भी निर्धारित होती है। भाषा इस पूरी प्रक्रिया का केंद्रीय घटक है।"<sup>2</sup>

भाषा केवल रचनात्मक अभिव्यक्ति का ही माध्यम नहीं है, वह लेखक और पाठक के बीच व्यावहारिक

संप्रेषण का भी माध्यम है। इस स्थिति में लेखक गैर जिम्मेदार ढंग से नहीं लिख सकता है। उसे पाठक के प्रति उत्तरदायी होना पड़ता है। भाषा की बोधगम्यता रचनात्मक भाषा की सबसे बड़ी विशेषता होती है, जो लेखक के रचनात्मक संघर्ष के परिणामस्वरूप सामने आती है। इस संदर्भ में अज्ञेय का कथन द्रष्टव्य है, "अभिव्यक्ति में एक ग्राहक या पाठक या श्रोता मैं अनिवार्यतः मानता हूँ और इसके परिणामस्वरूप जो दायित्व लेखक या कवि या कलाकार पर आता है उससे कोई निस्तार मुझे नहीं दिखा।... ऐसा प्रयोग अनुज्ञेय नहीं है जो 'किसी की किसी पर अभिव्यक्ति' के धर्म को भूलकर चलता है।"<sup>3</sup> सामान्य भाषा और साहित्यिक भाषा की सामग्रियाँ एक समान होती हैं, लेकिन प्रयोजन विशेष के कारण साहित्यिक भाषा का प्रकार्य भिन्न हो जाता है। जब भाषा में अतिरिक्त अर्थोत्पादन की शक्ति आ जाती है तो उसे साहित्यिक भाषा का दर्जा मिल जाता है। सामान्य शब्द भी जब सामान्य अर्थ से जुड़े किसी अतिरिक्त अर्थ या निहितार्थ का बोध कराने लगता है तो उसका सृजनात्मक मूल्य स्थापित हो जाता है और उस शब्द की अपनी अन्तर्निहित अर्थ—सृजन—क्षमता के कारण उसका साहित्यिक सौंदर्य निखरकर सामने आ जाता है। इस संदर्भ में सुप्रसिद्ध चिंतक गोविन्दचंद्र पाण्डेय का मत द्रष्टव्य है, "व्यावहारिक अर्थ को शब्दार्थ मानना शब्द प्रयोग की पहली और व्यावहारिक सीढ़ी है जिसे अभिधा कहा गया है। अभिधेय के कल्पित होने पर एवं अभिधा के किसी—न—किसी रूप में तिरस्कृत होने पर अथवा अभिधेयार्थ से जुड़े किसी अतिरिक्त की सूचना देने पर शब्दों का प्रयोग साहित्यिक रचना के अनुकूल होता है।"<sup>4</sup>

लेखक की भाषा और अभिव्यक्ति किसी न किसी प्रकार के अनुशासन से अवश्य बँधी होती है, क्योंकि वह रचना की विधा और उसकी संरचना के अतिरिक्त पाठक की संवेदना के प्रति उत्तरदायी होती है। अनुशासन के भंग होने पर संप्रेषणीयता बाधित होती है। ऐसी स्थिति में रचना की स्वायत्तता का प्रसंग भी बेमानी हो जाता है। रचना के संदर्भ में निरपेक्ष स्वायत्तता जैसी कोई चीज नहीं होती है। रचना के प्रसंग में केवल सापेक्ष स्वायत्तता की ही सार्थकता हो सकती है। इस संदर्भ में सुप्रसिद्ध रूसी आलोचक बाख्लिन का कथन ध्यातव्य है, "यह कहना विवादग्रस्त स्थापना ही है कि भाषा अंतरानुशासनिक खुलेपन को ओर ले जाती है। बल्कि सच तो यह है कि प्रत्येक अभिव्यक्ति अपनी शैली और विधा से प्रभावित होती है और अपने नियंत्रणों के बीच रहनेवाली स्वायत्तता से जुड़ती है।"<sup>5</sup> साहित्यिक भाषा में सृजनात्मक सौंदर्य की सृष्टि मानक भाषा के अनुसरण या विचलन से संभव होती है। मानक भाषा से अधिक विचलित होने पर साहित्यिक भाषा अपरिचितकरण का शिकार हो जाती है और वह संप्रेषण की दृष्टि से निष्प्राण हो जाती है। भाषा की जड़ता को तोड़ने के लिए आवश्यकतानुसार भाषा में परिवर्तन किया जा सकता है, लेकिन विचलन के लिए विचलन अनिवार्य नहीं है। संरचनावादियों के अनुसार साहित्यिक भाषा सामान्य भाषा से अलग एक विशिष्ट प्रयुक्त है। यह व्यापक भाषा की अनेक प्रयुक्तियों में से एक है। साहित्यिक भाषा के प्रसंग में यह देखना जरूरी है कि भाषा संबंधी कोई भी प्रयोग निरर्थक नहीं होना

चाहिए। भाषा को बिना विचलन के भी सृजनक्षम बनाया जा सकता है। भाषा का प्रयोग इस प्रकार किया जा सकता है जिससे सामान्य भाषा भी संदर्भ विशेष के कारण विशेष अर्थ का सृजन करने में सक्षम हो जाए। एक विश्लेषक के अनुसार, "साहित्य में भाषा का रूप लोक-व्यवहार का भी हो और उससे अलग विलक्षण भी। इसलिए साहित्यिक अभिव्यक्ति में शब्द और अर्थ की कई गहरी छवियाँ होती हैं। वह भाषा का ऐसा प्रयोग है जिसमें नये-नये अर्थ और जगत के नये-नये संदर्भ खुलने लगते हैं। वह बोलचाल की भी हो और मानक भी। हमारी जरूरत की उपज हो, आम जीवन से उपजी हो। भाषा का निजी चरित्र होता है। हमें उसे बदलना नहीं चाहिए, भाषा की प्रकृति बदलने से उसका सौंदर्य नष्ट हो जाता है।"<sup>6</sup>

किसी भी लेखक की भाषा-शैली का निर्माण कैसे होता है?— यह प्रश्न विचारणीय है। प्रत्येक लेखक भाषा के सार्वजनिक स्तर से सामग्री लेकर उसके व्यक्तिगत प्रयोग द्वारा अपनी भाषिक संरचना का निर्माण करता है। इसी भाषिक संरचना के बीच से उसकी शैली का व्यक्तित्व उभरकर सामने आता है। एक विश्लेषक के अनुसार, "भाषा अपने आप में समरूपी है, लेकिन प्रयोग में आने से वह विषमरूपी हो जाती है अर्थात् एक ही भाषा में पाए जानेवाले प्रयोग-गत भेदों के कारण भाषा-भेद दृष्टिगत होता है। इसे ही शैली कहते हैं।"<sup>7</sup> "सात फेरे" की भाषा का उसकी विनोद-मिश्रित व्यंग्यात्मक शैली ने सर्वाधिक प्रभावित किया है। इस शैली का चयन संयोगमात्र नहीं है। यह कथ्य के अनुरूप है और परिस्थिति से प्रभावित है। जायसवालजी ने व्यंग्य का प्रयोग सामाजिक अंतर्विरोधों और स्थितियों की विडबनाओं को मार्मिक और प्रभावशाली बनाकर प्रस्तुत करने के लिए किया है। एक विश्लेषक ने ठीक कहा है, "विकल्प से चुनी गई कोई भी शैली मात्र वकल्पिक नहीं होती। चयन का अपना सामाजिक संदर्भ होता है।"<sup>8</sup> व्यंग्य और विनोद वाली शैली का आधार लोकतांत्रिक और लोकसांस्कृतिक है। इससे व्यवस्था के प्रति असंतोष का भाव प्रकट होता है, बदलाव की आकांक्षा झाँकती है। यह जनकल्याण की भावना से प्रेरित है।

यह विकृतियों के आलोचनात्मक मूल्यांकन के कारण तटस्थ और यथार्थपरक है। व्यंग्य और विनोद का तात्त्विक विश्लेषण करते हुए सुप्रसिद्ध आलोचक डॉ. मैनेजर पाण्डेय का कथन विचारणीय है, "व्यंग्य और विनोद मूलतः लोकसंस्कृति की देन हैं। इनके माध्यम से लोकसंस्कृति में राजनीतिक तथा धार्मिक सत्ताओं की संस्कृति को चुनौती दी जाती रही है। व्यंग्य और हास्य हमेशा प्रभुत्वशाली सत्ता और संस्कृति के विरुद्ध आम जनता की आलोचनात्मक चेतना का माध्यम रहे हैं। व्यंग्य और विनोद के माध्यम से उपन्यासकार एक ऐसी दुनिया रचता है जो धार्मिक और राजनीतिक सत्ताओं की आकांक्षा की दुनिया से भिन्न होती है। उसमें व्यक्ति सच के प्रचलित रूपों, स्थापित व्यवस्था की मान्यताओं और धर्म के आदेशों-उपदेशों से मुक्ति का अनुभव करता है। व्यंग्य और विनोद के माध्यम से जो हँसी पैदा होती है वह व्यक्ति की स्वतंत्रता का माध्यम होती है और साधन भी। इसलिए व्यंग्य और विनोद के उपन्यास राजनीतिक सत्ता और धार्मिक सत्ता की आँखों में खटकते हैं। यह कोई

आश्चर्य की बात नहीं है कि धार्मिक सत्ता हँसी बर्दाश्त नहीं करती। दुनिया के अधिकांश धर्मों में हँसी की निन्दा की गई है और उसे धार्मिक कृत्यों से दूर रखा गया है, लेकिन उपन्यास ने व्यंग्य और विनोद के माध्यम से हास्य का उपयोग करते हुए अपने पाठकों में लोकतांत्रिक चेतना जगाने का काम किया है।"<sup>9</sup>

जायसवालजी ने 'सात फेरे' की भाषा को यथासंभव नैसर्गिक एवं सौंदर्यपूर्ण स्वरूप अर्पित किया है। इसके लिए उपन्यासकार में संकल्प, संघर्ष और समर्पण के दर्शन होते हैं। उक्त कृति की भाषा में लोक-प्रचलित शब्दों की बहुलता पायी जाती है। मुहावरों और लोकोक्तियों की सटीकता के कारण भाषा में लाक्षणिकता के तृप्तिकर लक्षण दर्शनीय हैं। यथार्थ के विविधवर्ण सौंदर्य को बाँधने में 'सात फेरे' की भाषा कहीं भी शिथिल नहीं हुई है। उक्त गुण-धर्मों के कारण वह लोकभाषा और लोकजीवन के अत्यधिक करीब पहुँच गयी है। जीवन की संश्लिष्टता को सहजता से अभिव्यक्त कर पाने में समर्थ बनाने के लिए लोक प्रचलित शब्दों के साथ मुहावरों-लोकोक्तियों के मेल से जिस व्यंग्यात्मक शैली का सृजन किया गया, उसी से 'सात फेरे' की भाषिक संरचना का स्वरूप निर्मित हुआ है। रचनात्मक लेखन की भाषा संबंधी इस रचनात्मकता को सर्वोत्तम माना जाता है। एक विश्लेषक के अनुसार, "लेखक के लिए उसकी शद्धता से अधिक महत्त्व उसकी सहजता का है। बोलियों और स्थानीय रंगों से कहानी-उपन्यास और नाटक की भाषा अर्थपूर्ण बनती है। ये स्थानीय रंग लोकप्रचलित शब्दों, मुहावरों- लोकोक्तियों के प्रयोग और भाषिक भंगिमाओं के माध्यम से विशिष्ट बनते हैं। उनमें लोकभाषा और लोकजीवन की छवियों का रचनात्मक उपयोग होता है। इसलिए साहित्यिक लेखन शुद्ध साहित्यिक नहीं होता है। वह विशिष्ट सामाजिक - सांस्कृतिक संदर्भों में ही जीवंत हो उठता है।"<sup>10</sup>

'सात फेरे' के लोकप्रचलित शब्दों, मुहावरों और लोकोक्तियों से संबंधित कुछ प्रयुक्तियाँ द्रष्टव्य हैं। उदाहरणार्थ, मन मसोसना, पुसाना, मिट्टी पलीद करना, सुमिरन करना, चकफेरी देना, नंगाझोरी होना, पत्तातोड़ भागना, बुक्का फाड़ना, टेंट खुलवाना, बगटुट घोड़े की तरह भागना, कंधी-चोटी करना, नाक कटाना, बालू से तेल निकालना, दम मारना, चाल-चलन, घर-फोरी औरत, कटहा कुत्ता, मनसूबे पर पानी फिरना, जल-भुन जाना, अनाप-षनाप, झिड़की देना, गाँठ बाँधना, जड़े जमाना, 'झट मँगनी, पट ब्याह', 'मुफ्त की गंगा, हराम का गोता', परहित सरिस धरम नहीं भाई, 'न गाय का नैहर, न पंडित का गाँव', ऐसी ही कुछ प्रयुक्तियाँ हैं, जो 'सात फेरे' की भाषा को जनजीवन और जनभाषा से अलग नहीं होने देती हैं। इन प्रयुक्तियों को समग्रता में देखने पर 'अर्द्धचन्द्र देना' जैसे मुहावरे का प्रयोग अपवाद जैसा लगता है। 'मारी-हारी' जैसे शाब्दिक विचलन से भी विचलित होने की आवश्यकता महसूस नहीं होती है। 'सात फेरे' के भाषिक सौंदर्य के संवर्धन में वाक्यों की सृजनधर्मिता का भी महत्त्वपूर्ण अवदान रहा है। उपन्यास में वाक्यों का गठन सृजन-कौशल का प्रवतक और प्रदर्शक होता है। वहाँ शब्द-स्थानों के हेर-फेर से भाषिक सौंदर्य का इन्द्रजाल रचा जाता है। यह जितना सहज

दिखाई देता है उतना सहज है नहीं। उपन्यासकार का यथार्थबोध एवं उसकी स्मृति-चेतना की प्रेरणा इस प्रकार के भाषिक विचलन को संचालित करते हैं। एक विश्लेषक का कथन है, "वाक्य-संरचना वस्तुतः सौंदर्य-संरचना होती है। पदों का पारस्परिक अन्वय वाक्य के गठन के औचित्य की दृष्टि से नहीं, अपितु सौंदर्य-सृष्टि के लिए समर्पित होता है।"<sup>11</sup>

'सात फेरे' में भाषा की सामान्यता के बीच सौंदर्यमूलक सृजनशीलता मौजूद है। वर्णन या प्रदर्शन का वैशिष्ट्य संदर्भ और कथ्य के वैशिष्ट्य के अनुरूप है। उपन्यास की शैली व्यंग्यात्मक है जिसका स्पष्ट प्रभाव भाषा पर परिलक्षित होता है। सरल जैसे लगने वाले कथन और वर्णन में गहरा लेखकीय तनाव और व्यंग्य-भाव निहित हैं। यहाँ कथ्य के प्रस्तुतीकरण की प्रक्रिया का अंत व्यंजना में होता है। उदाहरणार्थ उपन्यास का यह अंश देखा जा सकता है, "इलाके के इस 'महाझूट' की मिट्टी पलीद कर दी फुलकाहा के बैजनाथ मंडल ने। यह नामाकूल अपनी औरत की मौत पर सचमुच रो रहा था, जार-जार रो रहा था। यह सच है कि मरनेवाली औरत उसकी तीसरी बीवी थी, पर थी तो वह एक अदद औरत ही। पैसे सेर के हिसाब से औरत यहाँ मिलती रही है या नहीं!"<sup>12</sup> भाषा की सहजता, सरलता एवं सामान्यता के बावजूद यहाँ रचनात्मकता है। शब्द सामान्य भाषा के ही हैं, लेकिन शैली की व्यंग्यात्मकता एवं कथ्य की आवश्यकता के अनुरूप वाक्य में शब्द-स्थानों के परिवर्तन एवं सामाजिक संदर्भ के वैशिष्ट्य के कारण भाषा में सृजनात्मकता का आगमन संभव हुआ है। जहाँ औरत की मृत्यु पर रोना सहानुभूति और कृतज्ञता नहीं, असभ्यता मानी जाती है, वह समाज कितना सभ्य है, यह सहज अनुमेय है। वाक्य-प्रयोग में विविधता और विलक्षणता है। एक ही क्रिया-पद 'थी' का चामत्कारिक प्रयोग किया गया है। यहाँ पहला 'थी' सामान्य है, जबकि दूसरा 'थी' समाज के आंतरिक यथार्थ से जुड़ी मानसिकता को अभिव्यक्त करनेवाला और सामाजिक निहितार्थगर्भित है। 'पैसे सेर के हिसाब से औरत का मिलना' जैसा वाक्यांश औरत के वस्तुकरण और सस्तेपन को व्यंजित करता है। 'पैसा' और 'सेर' जैसे पदों के प्रयोग द्वारा भाषा का समाजीकरण और लोकतंत्रीकरण किया गया है।

इससे भाषा की जातीय और देशज पहचान स्थापित हुई है। भाषा-प्रयोग संबंधी इस वैशिष्ट्य के कारण वर्णन में विलक्षणता और रचनात्मकता आ गयी है। उपन्यास के उद्धृत अंश के अनुशीलन से जो अर्थोद्भेदन होता है, उससे सभ्यता के आवरण में छिपी हुई असहजता और बर्बरता उजागर होती है। यहाँ सहज भाषा की मारक क्षमता के कारण औरत के स्वतंत्र अस्तित्व एवं अस्मिता के संकट का संकेत मिलता है। जायसवालजी यथार्थ को शब्दों की निर्मिति न मानकर उसके स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। उपन्यास भाषिक कला अवश्य है, कला की सापेक्ष स्वायत्तता भी स्वीकार है, लेकिन यथार्थ के वस्तुगत आधार को अस्वीकार करना संभव नहीं है। उपन्यासकार यथार्थ के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार करते हुए उसकी भाषिक पुनर्रचना करता है। जायसवालजी ने 'सात फेरे' में यथार्थ की ऐसी ही यथार्थपरक भाषिक पुनर्रचना की है। यहाँ भाषा की सापेक्ष स्वायत्तता सर्वथा

सुरक्षित है, साथ ही यथार्थ संबंधी दृष्टिकोण कहीं भी धूमिल नहीं है और उसकी सामाजिकता कहीं भी आहत नहीं हुई है। लेखक का भाषा-बोध और उसकी भाषा-दृष्टि गुणवत्तापूर्ण एवं सृजन-गुण-सम्पन्न है। जायसवालजी को यथार्थबोध और सौंदर्यबोध की अभेद दृष्टि प्राप्त है। बोध-पक्ष और अभिव्यक्ति-पक्ष को आस्वाद-पक्ष से समन्वित करने के कारण 'सात फेरे' का भाषिक संरचना लोकपक्षीय हो गयी है। इस संदर्भ में दंगल झाल्टे का कथन द्रष्टव्य है, "आधुनिक उपन्यासकार अपने परिवेश, जीवन, जगत, अनुभव तथा साहित्यिक दायित्व के प्रति अत्यधिक सजग हैं। इन रचनाकारों का भाषा-बोध उनकी कृतियों में एक शक्तिमान वास्तविकता बनकर उभर आया है, जो नये समीक्षक से विवेचन और विश्लेषण की माँग करता है। अभिव्यक्ति के सशक्त माध्यम भाषा की विस्तृत संभावनाओं तथा प्रयोगधर्मिता के प्रति इतना सचेत, सजग और आग्रही वह पहले कभी नहीं रहा है। आधुनिक उपन्यासकार समसामयिक परिवेश तथा स्थितियों के भीषण यथार्थ से आक्रांत मनुष्य की जटिलतम प्रक्रियाओं को गहनता से संप्रेषित और अभिव्यक्त का सकने योग्य भाषा के निर्माण में अपूर्वरूप से संलग्न है। आधुनिक उपन्यासकारों का मुख्य मंतव्य भाषा को किसी शाश्वत शास्त्रीय नियम के अनुसार प्रांजल परिमार्जित रखना नहीं है किन्तु भाषा को वह एक जीवंत, मांसल एवं लचीले माध्यम की भाँति मानना है, जिसे आवश्यकतानुसार अथवा स्थितियों के अनुरूप प्रयुक्त किया जा सके।"<sup>13</sup>

'सात फेरे' की भाषा-संरचना का दूसरा पार्श्व वहाँ सामने आता है जहाँ यथार्थ के साथ अद्भुत तत्त्व की संयुक्त अभिव्यक्ति का राजमार्ग तैयार किया गया है। यह भव्य, रोचक और आश्चर्यकारी है। यहीं भाषा का सर्वाधिक आख्यानपरक तत्त्व संघनित हुआ है तथा किस्सागोई का टाट-बाट देखने को मिलता है। ये सब चीजें भाषा को जितना बाँधती हैं, उतना ही मुक्त भी करती हैं। यहाँ कठोर यथार्थ और व्याकरण के बंधनों से मुक्त भाषा का स्वरूप गढ़ा गया है। यहाँ भाषा मिथकीय स्वरूप ग्रहण कर लेती है। मिथक और भाषा के अद्वैत से निर्मित भाषा अधिभाषा में परिणत हो जाती है जो एक ओर अनिर्वचनीयता का स्पर्श करती है तो दूसरी ओर अतिवचनीयता का। इससे भाषा में अद्भुत-मिश्रित यथार्थ को व्यक्त करने की क्षमता आती है। इस संदर्भ में सुप्रसिद्ध समीक्षक रमेश कुंतल मेघ का कथन द्रष्टव्य है, "पूर्वतिहास-पुरातन इतिहास की गोधूली में मिथक और अक्षर, मिथक और भाषा एकमेव होकर अधिभाषा में तिलोत्तमावृत्त हो गयी। और हम अब तक अर्पित कर चुके हैं कि अधिभाषा तो अपना हो वाक्य-विन्यास, रूपिमशास्त्र, अर्थविज्ञान विकसित करती है: अपनी ही छंदात्मक लयपूर्ण पंक्तियों की रचना करती है जो आद्यरूपों, बिंबों, कूटों, प्रतीकों, अभिप्रायों आदि से गुँथी होती है। इसमें प्रोक्तियों के संग-संग कथात्मक पदबंधों, वृत्तांतों, पदरचनाओं का भी समावेश हुआ। अर्थ के साथ-साथ तात्पर्य, मनोरथ, प्रयोजन, संकेत एवं अंततः चित्ति एवं परावृत्ति का भी अनावृत्त या निर्वस्त्र संदर्शन-दिग्दर्शन हुआ। सो, इस अलबेली-अगम्या भाषा में अनिर्वचनीय तथा अतिशय वचनीय के हिंडोले की झूलन है। फिर एक कालोत्तीर्ण लम्बी छल्लाँग लगाई गयी। विश्वमिथकयान ऐसे ही

कालयात्री रहे हैं। मिथक और भाषा का द्वैत मिथकीय भाषा के अद्वैत में संघनित होता गया।<sup>14</sup> अधिभाषा की विशेषताएँ उसे मिश्रित यथार्थ की ओर अग्रसर करती हैं। इस भाषा की अपनी सामान्यता और माध्यमिकता है। इसके प्रभावशाली होने का रहस्य यह है कि इसमें सहज संवेद्यता पायी जाती है। अभिप्रायगर्भिता, सांकेतिकता, प्रयोजनीयता, प्रसंगगर्भत्व, अतिरंजकता आदि के कारण इस भाषा का स्वरूप रहस्यमय हो जाता है। यही रहस्यमयता और अलौकिकता इसकी शक्ति है। जीवन और जगत के रहस्योद्घाटन में इससे सहायता मिलती है। उपन्यास की वस्तु के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए इतिहासाचार्य विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े ने लिखा है, "समाज में और समूचे विश्व में भी अदभुत और यथार्थ का मेल अनेकानेक अनुपातों में संभव होता है। शुद्ध अदभुत और शुद्ध यथार्थवादी इस संसार में शायद ही कुछ है। हर जगह मिश्रण और मेल ही दिखाई देगा। ऐसी परिस्थिति में अगर कोई शुद्ध यथार्थवादी रचना करने का दावा करे तो उसे निरा पाखण्ड समझा जाए और अगर पाखण्ड न हो तो वह सरासर गलत ही है। जिस अर्थ में चित्रकारी कला है उसी अर्थ में उपन्यास-लेखन भी कला है। चित्र में वस्तु का श्वेत-श्याम रंगों में यथास्थान अंकन जिस तरह असंभव होते हुए भी चित्रकार की कोशिश हू-ब-हू का भ्रम दिलाने की होती है, यही बात उपन्यास के संबंध में भी होती है। संसार के और समाज के हर छोटे-बड़े प्रसंग का अंकन न कर कई प्रसंगों को यद्यपि छोड़ दिया जाता है, तथापि अत्यंत महत्वपूर्ण प्रसंगों को थोड़ी-सी अतिरंजकता के साथ वर्णित करने का काम उपन्यास के विधान में होता है। इसी में उपन्यासकला का रहस्य भी है।"<sup>15</sup>

'सात फेरे' में लोकगीतों, लोकविश्वासों, किंवदंतियों, टोने-टोटकों, तत्र-मंत्र जैसे तत्त्वों का रचनात्मक उपयोग किया गया है। इससे जनजीवन और जनमानस को प्रामाणिकता के साथ प्रतिबिंबित करने में सहायता मिली है। मिथकीय भाषा ने इसमें महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। यहाँ मिथकीय भाषा की प्रयोजनीयता स्वतः सिद्ध हो जाती है। सभी प्रकार की आर्थिक अनिश्चितता, अतिरंजकता एवं रहस्यमयता के बावजूद वह यथार्थ के व्यक्तिगत, समाजगत एवं वस्तुगत आधार पर आधारित है। यही 'सात फेरे' की यथार्थानुखी अधिभाषाधर्मी भाषा की सफलता का रहस्य है।

### निष्कर्ष

'सात फेरे' की भाषा लोचदार है। वह एक साथ ही बाह्य यथार्थ और आंतरिक यथार्थ को व्यक्त करने में समर्थ है। यथार्थ बहुआयामी होता है, इसलिए उसकी अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में भाषा का लचीला होना जरूरी है। 'सात फेरे' में अभिव्यक्त यथार्थ संश्लिष्ट, व्यापक और बहुमुखी है। उसे सामान्य भाषा की सामान्यता के साथ ही मिथकीय भाषा की विलक्षणतागर्भित सामान्यता द्वारा पुनर्रचित किया गया है। फलतः उपन्यास में कलात्मकता आ गई है। सक्षम और सृजनात्मक भाषा के अभाव में यह संभव नहीं होता। उपन्यासकार के रचनात्मक प्रयास से भाषा बहिर्मुखी होने के साथ ही अंतर्मुखी भी हो गयी है। भाषिक संरचना के निर्माण में लोकप्रचलित शब्दों, मुहावरों, लोकोक्तियों, मिथकों, फैंटेसियों, बिंबों, प्रतीकों, कथाओं, लोकगीतों, भड़ौआ आदि का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

भाषा सर्वत्र लोकधर्मी एवं व्यंग्यप्रधान है। वह बहुस्तरीय, पारदर्शी, लाक्षणिक, संवादात्मक एवं अनभवाश्रित है। उसमें आत्मीयता, विश्वसनीयता एवं सहज संवेद्यता के गुण मौजूद हैं। बोलचाल की भाषा की अनुरूपता ही उसका सबसे बड़ा आकर्षण है। जातीय शब्दों के प्रयोग से संबंधित सामान्यतागर्भित सृष्टि ही औपन्यासिक भाषा की आधारभूत संरचना है। अनुसंधेय कृति की भाषा यथार्थ और अदभुत तत्त्वरूपी दो ध्रुवों के बीच दोलन करती है। यथार्थ और मिथकीय यथार्थ की संतुलित, विश्वसनीय और प्रामाणिक अभिव्यक्ति ही अनुसंधेय भाषा का साध्य है। अतः उपन्यासकार ने 'सात फेरे' की भाषा का संगठन साध्य के अनुरूप किया है।

### सुझाव

'सात फेरे' की भाषिक संरचना के अन्वेषण, विश्लेषण एवं मूल्यांकन के क्रम में यह अनुभव हुआ कि किसी भी उपन्यास के शिल्प, उसकी भाषा-शैली एवं भाषिक संरचना का अध्ययन अभिव्यक्ति की प्रविधियों, युक्तियों एवं प्रयुक्तियों के आधार पर किया जा सकता है। उपन्यास के सौंदर्यात्मक अध्ययन के लिए यह युक्ति उपयोगी हो सकती है।

### संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. कुमार, सुरेश एवं श्रीवास्तव, रवीन्द्रनाथ (सं.) (2000) : शैली और शैलीविज्ञान, आगरा, केन्द्रीय हिंदी संस्थान, पृ.सं.-131,
2. श्रीवास्तव, एकान्त एवं खेमानी, कुसुम (सं.) : वागर्थ, अंक 229, : अगस्त 2014, पृ.सं.-31,
3. अज्ञेय, सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन (2003) : आत्मनेपद, नई दिल्ली, भारतीय ज्ञानपीठ, पृ.सं.-29,
4. पाण्डेय, गोविन्द चंद्र (2012) : साहित्य और चेतना, साहित्य अकादेमी संवत्सर व्याख्यान- अठारह, नई दिल्ली, साहित्य अकादेमी, पृ.सं.-28,
5. दुबे, अभय कुमार (सं.) (2015) : समाज विज्ञान विश्वकोष, खण्ड-4, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, पृ.सं.-1446,
6. गौतम, प्रो. रमेश (सं.) (2008) : रचनात्मक लेखन, नई दिल्ली, भारतीय ज्ञानपीठ, पृ.सं.-12,
7. जैन, महावीर सरन (सं.) (1998) : गवेषणा : 71-72, आगरा, केन्द्रीय हिंदी संस्थान, पृ.सं.-179,
8. वही, पृ.सं.-179-180,
9. पाण्डेय, डॉ. मैनेजर (2012) : आलोचना की सामाजिकता, नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन, पृ.सं.-259,
10. गौतम, प्रो. रमेश (सं.) (2008) : रचनात्मक लेखन, नई दिल्ली, भारतीय ज्ञानपीठ, पृ.सं.-12-13,
11. पाण्डेय, डॉ. कैलाशनाथ (2014) : प्रयोजनमूलक हिंदी की नयी भूमिका, इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन, पृ.सं.-22,
12. जायसवाल, चन्द्रकिशोर : सात फेरे (2009), नई दिल्ली, भारतीय ज्ञानपीठ, पृ.सं.-09,
13. झाल्टे, दंगल (1987) : उपन्यास: समीक्षा के नये प्रतिमान, नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन, पृ.सं.-131,
14. मघ, रमेश कुंतल (2015) : विश्वमिथक सरित्सागर, नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन, पृ.सं.-277-278,
15. पाण्डेय, डॉ. मैनेजर (2013) : उपन्यास और लोकतंत्र, नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन, पृ.सं.-115